International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493
Received: 26-05-2026, Accepted: 26-06-2026, Published: 11-07-2026
Volume 8, Issue 3, 2026, Page No. 1-3

सम्मान और पहचान की तलाशः पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा

चित्रा मुद्गल, वंदना रमेश गुप्ता
शोध छात्र, हिंदी विभाग, एस. एन. डी. टी. महिला महाविद्यालय, मुंबई, महाराष्ट्र, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijrh.2026.8.3.8049

सारांश
हिंदी साहित्य अपने उद्भव काल से ही समाज के यथार्थ, संघर्ष और विविधताओं का सशक्त दर्पण रहा है। इसने समय–समय पर बदलते सामाजिक परिदृश्यों को शब्दों में ढालकर न केवल अनुभवों को संरक्षित किया है बल्कि पाठकों को विचार करने के लिए भी प्रेरित किया है। स्वतंत्रता के बाद हिंदी साहित्य ने आधुनिकता, स्त्री–विमर्श, दलित–विमर्श, आदिवासी विमर्श और मुस्लिम विमर्श जैसे नए विमर्शों को स्वर देकर सामाजिक चेतना को और गहन बनाया। साहित्य का एक प्रमुख कार्य सदैव उपेक्षित और हाशिए पर पड़े जनसमुदायों को वाणी देना रहा है। इन्हीं विमर्शों में एक ऐसा समुदाय है, जो सदियों से उपेक्षा और भेदभाव की मार झेल रहा है – तृतीयपंथी अथवा किन्नर समुदाय। भारतीय समाज में किन्नरों की स्थिति आज भी चुनौतीपूर्ण है। स्त्री और पुरुष को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक मान्यता मिली है, किंतु तृतीयपंथी समुदाय को अब तक समान दर्जा नहीं मिल सका है। आधार कार्ड में उनकी पहचान दर्ज होना हाल के वर्षों की उपलब्धि है, जो दशकों की सामाजिक और सरकारी उपेक्षा का प्रमाण है। उनके जीवन का बड़ा हिस्सा सामाजिक अस्वीकृति, तिरस्कार और अलगाव में बीतता है। आज भी सड़कों पर जब मैं उन्हें बिन मांगे दुआ देते हुए देखती हूँ, तो मुझे यह एहसास होता है कि किस प्रकार सामाजिक अस्वीकृति ने उनकी जीवनशैली को प्रभावित किया है, जहाँ उन्हें अपना पेट भरने के लिए अपनी साड़ी का पल्लू फैलाना पड़ता है। धार्मिक त्योहारों और निजी उत्सवों में भी, जहां उनकी उपस्थिति को शुभ माना जाता है, मैंने कई बार उन्हें लोगों द्वारा अपमानित और प्रताड़ित होते हुए देखा है।
हिंदी साहित्य में अन्य विमर्शों के साथ ही हालिया वर्षों में तृतीय लिंगी विमर्शों पर भी काम हुआ है। जिसमें चित्रा मुद्गल का महत्वपूर्ण स्थान है उन्होंने अपने उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स न. 203' में किन्नरों के जीवन की त्रासदी, संघर्ष और सम्मानजनक अस्तित्व की चाह को बड़ी मार्मिकता से उजागर किया है। यह उपन्यास पाठकों को सोचने पर विवश करता है कि आखिर समाज कब तक किन्नरों को स्वीकार्य नहीं करेगा?

शोध का उद्देश्य
- हिंदी साहित्य में तृतीयपंथी (किन्नर) समुदाय की सामाजिक, मानसिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति का विश्लेषण करना।
- समकालीन हिंदी उपन्यासों (विशेषतः चित्रा मुद्गल के 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा') के माध्यम से किन्नर समुदाय के जीवन संघर्ष, अस्मिता और सम्मान की खोज को उजागर करना।
- हिंदी साहित्य में किन्नर विमर्श की प्रस्तुत शैली, संवेदना और भाषा के माध्यम से पाठकों पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।
- भारतीय समाज की लैंगिक असमानताओं और पूर्वग्रहों के साहित्यिक प्रतिबिंब का विवेचन करना।
- हाशिए पर खड़े समुदायों को केंद्र में लाने के साहित्यिक प्रयासों की प्रासंगिकता और प्रभावशीलता को समझना।
- किन्नर समुदाय की स्वीकृति, गरिमा और पुनर्स्थापन की दिशा में साहित्यिक हस्तक्षेप की भूमिका का मूल्यांकन करना।

शोध प्रविधिः इस शोध में गुणात्मक विश्लेषण पद्धति का प्रयोग किया गया है। शोध के अंतर्गत प्रमुख रूप से चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा' का विषय–केन्द्रित एवं विमर्शात्मक अध्ययन किया गया है। इसके साथ ही तृतीयपंथी समुदाय से संबंधित सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संदर्भों को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया है। माध्यमिक स्रोतों का सहारा लेकर विषय की व्यापकता को समझने का प्रयास किया गया है।

मूल शब्दः किन्नर समुदाय, लैंगिक असमानता, पहचान और अस्मिता, हाशिए का समाज, सम्मानजनक अस्तित्व, संवेदनात्मक विमर्श

विनोद का चरित्र और उसका संघर्ष– चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में विनोद उर्फ़ बिन्नी का चरित्र एक बहुआयामी और जटिल रूप में उभरता है। बचपन में ही परिवार द्वारा सामाजिक तिरस्कार और लांछनाओं से बचने के लिए किन्नरों के हवाले कर दिया गया विनोद, अपनी अस्मिता और सम्मानजनक जीवन की लड़ाई निरंतर लड़ता रहता है। उसके भीतर गहरे असंतोश के अनेक स्तर हैं— परिवार के प्रति शिकायत, समाज की जड़ मानसिकता को झकझोरने की आकांक्षा, राजनीतिक संवेदनहीनता पर प्रश्न और अपने ही समुदाय के मानसिक अनुकूलन को चुनौती। वह अपने परिवार से बार–बार प्रश्न करता है कि क्यों मात्र 'लिंग दोश' के कारण उसे माँ की गोद से अलग कर दिया गया और उसकी सुरक्षा के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया। वहीं समाज के प्रति उसका आक्रोश इस कथन में झलकता है—"किन्नरों के धड़ के नीचे लिंग न सही, धड़ के ऊपर मस्तिष्क भी नहीं है, यह कैसे सोच लिया आपने?"।[1] शिक्षा को वह अपनी मुक्ति का एकमात्र मार्ग मानता है—"पढ़ाई ही हमारी मुक्ति का रास्ता है, कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा गया है हमारे लिए।"[2]
विनोद का आक्रोश केवल परिवार और समाज तक सीमित नहीं है; वह राजनीति और अपने समुदाय दोनों पर कटाक्ष करता है। राजनीति में किन्नरों का इस्तेमाल केवल वोट बैंक के रूप में होता है, उनकी वास्तविक समस्याओं से किसी को सरोकार नहीं—"बना हुआ है, वह भी फर्जी नाम से... वोट मेरे नाम का सरदार डलवा ही देते हैं।"[3] वहीं अपने समुदाय की मानसिक जड़ता और आत्मसमर्पण की प्रवृत्ति को भी वह चुनौती देता है। उसके अनुसार, किन्नरों की दुर्दशा के लिए जितना समाज जिम्मेदार है, उतना ही दोशी उनका अपना समुदाय और उसके गुरुजन भी हैं—'असामाजिक तत्वों के हाथ की कठपुतली बनने

में जितनी भूमिका किन्नरों के संदर्भ में सामाजिक बहिष्कार–तिरस्कार की रही है, उससे कम उनके पथभ्रष्ट निरंकुश सरदारों और गुरुओं की नहीं।' विनोद का संघर्ष अपने और अपने जैसे हज़ारों किन्नरों के लिए सामान्य मनुष्य के रूप में पहचाने जाने की आकांक्षा का प्रतीक है।

परिवार का दृष्टिकोण और सामाजिक मानसिकता–विनोद को किन्नरों के हवाले कर देने के बाद उसके परिवार का जीवन भी अस्थिर और भयग्रस्त हो जाता है। समाज की तीखी नज़रों, पड़ोस की चेमी–गोइयों और असुविधाजनक सवालों से बचने के लिए उन्हें अपना पुराना घर बदलना पड़ता है। कालबादेवी से नाला सोपारा का यह स्थानांतरण केवल भौतिक नहीं बल्कि गहरी प्रतीकात्मक व्यंजना समेटे हुए है—एक समृद्ध, सम्मानित बस्ती से 'नाले' जैसी घृणित जगह पर आना, मानो परिवार की खुशियों और गरिमा का ह्रास हो गया हो। यह गिरावट सबसे अधिक विनोद के जीवन में परिलक्षित होती है, क्योंकि उसकी अस्मिता और अस्तित्व स्वयं ही 'हाशिए पर' धकेल दिए गए हैं।

इस सबके बीच विनोद और उसकी माँ 'बा' के बीच का पत्राचार उपन्यास का सबसे संवेदनशील और भावनात्मक पक्ष है। विनोद के लिए ये पत्र माँ के प्रेम, अपराध बोध और दूरी के दर्द से भरे हुए एकमात्र सहारा हैं। बा अपने बेटे के खो जाने का अपराध बोध हर समय ढोती हैं—"जो मेरे नजदीक है, मन्नत से पाई पहलौठी की संतान, वह मुझसे कितनी दूर है। जो दूर है, वह सबसे करीब।"[4] वहीं विनोद भी अपनी माँ की व्यस्तताओं और विवशताओं को समझता है, लेकिन उनके बीच की दूरी उसे हर बार सालती है। माँ–बेटे के रिश्ते में यह गहरी संवेदनशीलता और भावनात्मक पीड़ा पूरे उपन्यास में एक स्थायी भावधारा के रूप में बनी रहती है, जो किन्नर जीवन के दर्द के साथ–साथ मातृत्व की अंतर्द्वंद्वपूर्ण स्थिति को भी उजागर करती है।

शिक्षा, आत्मसम्मान और मनुष्य होने का संघर्ष–'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में विनोद का सबसे बड़ा विश्वास यह है कि शिक्षा ही उनके समुदाय की मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। वह बार–बार कहता है—"पढ़ाई ही हमारी मुक्ति का रास्ता है, कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा गया है हमारे लिए।"[5] शिक्षा को वह न केवल ज्ञान प्राप्त करने का साधन, बल्कि सामाजिक स्वीकृति और आत्मसम्मान पाने का सबसे प्रभावी हथियार मानता है। उसका विश्वास है कि जब तक समाज की सोच नहीं बदलेगी और लोग किन्नरों को संवेदनशील मनुष्य के रूप में नहीं स्वीकारेंगे, तब तक उनके माता–पिता उन्हें जन्म लेते ही 'अयोग्य' मानकर त्यागते रहेंगे। लेकिन यह मार्ग आसान नहीं है। भारत जैसे देश में, जहाँ शिक्षा हर नागरिक का मौलिक अधिकार है, वहाँ किन्नरों को प्रारंभ से ही संरचनात्मक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए आवश्यक प्रपत्रों में केवल 'मेल' और 'फीमेल' के विकल्प होते हैं। जब विनोद इग्नू में प्रवेश लेना चाहता है और फॉर्म में यह देखता है, तो उसकी हताशा फूट पड़ती है—"मेल, फीमेल के खाने में तो मेल ही टिक करूंगा बा। सरकार भी अजीब है न बा।"[6] यह अनुभव स्पष्ट करता है कि उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित करने वाली बाधाएँ केवल सामाजिक पूर्वाग्रहों से नहीं, बल्कि शैक्षिक ढांचे की असंवेदनशीलता से भी आती हैं।

विनोद इस बात पर दृढ़ है कि किन्नरों को '0–अदर्स' की श्रेणी से बाहर निकालकर अन्य पिछड़े और वंचित वर्गों की तरह समान अधिकार दिए जाएँ। उसके लिए असली संघर्ष यह है कि किन्नरों को 'मनुष्य' के रूप में स्वीकार किया जाए, न कि केवल किसी तीसरे लिंग के प्रतिनिधि के रूप में। वह पूछता है—"लिंग दोशी सभी लिंग से स्त्री–पुरुष नहीं हैं तो क्या मनुष्य नहीं हैं?"[7] उसकी यह जिजीविशा और आत्मसम्मान की तलाश न केवल व्यक्तिगत पहचान की लड़ाई है, बल्कि पूरे समुदाय को सामाजिक न्याय दिलाने का प्रयास भी है।

इसी सामाजिक स्वीकृति और न्याय की लड़ाई में शिक्षा का प्रश्न भी उतना ही महत्वपूर्ण बनकर उभरता है। 'तीसरी ताली' और 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा' — दोनों ही उपन्यासों में इस तथ्य पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है कि किन्नरों की शिक्षा के अभाव ने उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति को और अधिक दयनीय बना दिया है। दोनों उपन्यास यह स्पष्ट करते हैं कि किन्नरों को शिक्षा प्राप्त करने में कितनी कठिनाइयों और भेदभाव का सामना करना पड़ता है। समस्या यह नहीं कि किन्नर शिक्षा ग्रहण नहीं करना चाहते, बल्कि वास्तविक समस्या हमारी शैक्षणिक व्यवस्था में निहित है—जहाँ छात्र या शिक्षक से अधिक उसके लिंग को महत्त्व दिया जाता है। यही कारण है कि चाहे 'तीसरी ताली' की निकिता हो या 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नालासोपारा' की विनीता—दोनों ही इस सामाजिक पूर्वाग्रह की शिकार बनती हैं।

उपन्यासों में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि जेंडर स्पष्ट न होने के कारण ही किन्नरों का विद्यालय में दाखिला नहीं कराया जा सकता। इतना ही नहीं, किन्नर स्वयं भी यह भली–भाँति जानते हैं कि विद्यालय जैसे संस्थान उनके लिए बने ही नहीं हैं। 'तीसरी ताली' में मंजू स्वयं कहती है "हिजड़े के बच्चे को कौन दाखिला देगा स्कूल में?"[8]

दोनों ही उपन्यासों में जहाँ एक ओर शैक्षणिक व्यवस्था पर प्रश्न उठाया गया है, वहीं दूसरी ओर कृत्रिम रूप से किन्नर बनाए जाने की व्यथा भी चित्रित की गई है। चाहे किसी को जबरदस्ती किन्नर बनाया गया हो या फिर गरीबी और गद्दी के लालच में स्वयं यह पहचान स्वीकार की गई हो — दोनों ही स्थितियाँ समाज की निर्ममता और विवशता को उजागर करती हैं।

राजनीति और अवसरवादिता

चित्रा मुद्गल के 'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' में राजनीति के खोखलेपन और अवसरवादिता पर तीखा व्यंग्य किया गया है। उपन्यास यह स्पष्ट करता है कि किन्नरों के जीवन की पीड़ा और उनकी सामाजिक उपेक्षा राजनीतिक दलों के लिए केवल चुनावी रणनीति का हिस्सा हैं। नेताओं की नज़रों में यह हाशिए पर खड़ा समुदाय संवेदनशील मुद्दा नहीं, बल्कि एक ऐसा 'वोट बैंक' है, जिसे समय–समय पर भुनाया जा सकता है। विधायक और तिवारी जी जैसे पात्र दिखाते हैं कि किस प्रकार वोटों की गिनती बढ़ाने के लिए संवेदनशील मुद्दों को तोड़ा–मरोड़ा जाता है, पुराने घाव कुरेदे जाते हैं और नए मुद्दे पैदा किए जाते हैं। उनका उद्देश्य न तो किन्नरों के जीवन में कोई वास्तविक परिवर्तन लाना होता है और न ही उनकी पीड़ा को समझना, बल्कि केवल अपने वोट बैंक को मजबूत करना होता है। विनोद इस राजनीतिक स्वार्थ को गहराई से समझता है और उसकी व्यंग्यात्मक टिप्पणी में लोकतंत्र का खोखलापन उजागर होता है—"बना हुआ है, वह भी फर्जी नाम से। देखा, गया कभी मैं वोट डालने? वोट मेरे नाम का सरदार डलवा ही देते हैं। नाखून से स्याही उड़ाने का गुर उनसे ज्यादा किसे आता है।"[9] यह कथन उस सच्चाई को उजागर करता है कि जिन किन्नरों को समाज मनुष्य तक मानने को तैयार नहीं है, उनकी पहचान और अधिकार सिर्फ चुनावी आंकड़ों में मौजूद हैं। यह स्थिति न केवल उनके वोट के दुरुपयोग की ओर इशारा करती है, बल्कि इस तथ्य पर भी कि लोकतंत्र का आधार मानी जाने वाली जनता स्वयं राजनेताओं के लिए केवल एक साधन बनकर रह गई है।

धर्म और समाज का पाखंड

धर्म और समाज के पाखंड को तीखे व्यंग्य के साथ उजागर करती हैं। धर्म का मूल उद्देश्य हर मनुष्य को उसकी मानवता के आधार पर स्वीकारना और सभी के लिए समान गरिमा सुनिश्चित करना है। किंतु वास्तविकता में धर्मांध समाज इस मूल भावना से

कोसों दूर जा चुका है। यहाँ धार्मिक आडंबर और लिंग–पूजा इतनी गहरी पैठ चुकी है कि 'लिंग–विहीन' समझे जाने वाले किन्नरों को स्वीकारना असंभव सा प्रतीत होता है। समाज उन्हें जन्म से ही बहिष्कृत कर देता है, जैसे मानो उनका होना ही कोई अभिशाप हो।

विनोद इस विडंबना को तीखे शब्दों में बयान करता है—"लिंग–पूजक समाज लिंगविहीनों को कैसे बरदाश्त करेगा? माता–पिता दोशी हैं, मगर उससे ज्यादा दोशी हैं क्रूर, पाखंडी धर्म–विश्लेषकों की धर्मान्धता।"[10] उसकी पीड़ा यह उजागर करती है कि जिन किन्नरों को समाज सबसे पहले अपनाना चाहिए, उन्हें ही सबसे अधिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। धर्मांध लोग धर्म के नाम पर न केवल इन हाशिए पर खड़े लोगों को समाज से अलग रखते हैं, बल्कि उनके साथ अमानवीय व्यवहार को भी उचित ठहराते हैं।

किन्नरों की भावनाएँ, यौन शोषण और द्वंद्व

उपन्यास में किन्नरों के आंतरिक द्वंद्व, भावनाएँ और यौन शोषण की पीड़ा को संवेदनशीलता से चित्रित किया गया है। बिन्नी और ज्योत्सना के बीच का किन्नर–स्त्री प्रेम यह दर्शाता है कि किन्नरों में भी सामान्य इंसानों की तरह स्नेह, आकर्षण और भावनाएँ होती हैं। वहीं पूनम जोशी का बिन्नी के प्रति आकर्षण और उसके साथ हुई दुष्कर्म की घटना समाज के क्रूर और दोहरे चरित्र को उजागर करती है, जहाँ वही लोग जो बाहरी रूप से सहानुभूति जताते हैं, शोषण में पीछे नहीं रहते।

विनोद के मन में बार–बार यह प्रश्न उठता है—

मेरे नुन्नू क्यों नहीं है, बा?

यह प्रश्न उसके आत्मधिक्कार, हीनभावना और स्वीकृति के संघर्ष को गहराई से उजागर करता है। बचपन से ही वह अपनी शारीरिक असमानता को लेकर जूझता रहता है, जिससे उसके भीतर स्वयं को स्वीकारने की लड़ाई और अधिक तीव्र हो जाती है। यह संपूर्ण द्वंद्व किन्नरों की उस पीड़ा का प्रतिनिधि है, जिसमें वे समाज से ही नहीं, स्वयं से भी संघर्ष करते हैं।

उपन्यास का अंत सुखांत से परिवर्तित कर दुखांत किया गया है ताकि कथानक का यथार्थ रूप पाठकों के समक्ष आ सके। उपन्यास के माध्यम से एक माँ का अपने किन्नर बेटे से घर वापसी की अपील करना, माफीनामा भेजना और उसे अपनी जायदाद में हिस्सा देना—किन्नरों के प्रति समाज में आ रहे एक बड़े सामाजिक परिवर्तन की ओर संकेत करता है। "एक बड़ा दिलचस्प प्रश्न लेखिका इस उपन्यास के नाम के साथ एवं विनोद की मां के द्वारा लिए गए पोस्ट बॉक्स नं. के माध्यम से भी उठाती हैं। इसके शीर्षक से ऐसा प्रतीत होता है कि किन्नरों के लिए जैसे कोई एक निश्चित ठिकाना ही नहीं है। उनका एक निश्चित पता, घर या परिवार नहीं है, बल्कि उनका कोई है ही नहीं। उनकी जिंदगी एक पोस्ट बॉक्स नं. की तरह है, जिसे देखते तो सब हैं लेकिन अपनाता कोई नहीं है। वह अपने आप में एक पूर्णपता है, लेकिन उसका कोई अता–पता नहीं है।"[11]

निष्कर्ष

'पोस्ट बॉक्स नं. 203 नाला सोपारा' का उपसंहार समाज के लिए एक गहरी अपील है—किन्नरों को भी उसी गरिमा और मानवीय दृष्टिकोण से स्वीकारा जाए, जैसे समाज अन्य व्यक्तियों को स्वीकारता है। लेखिका यह संदेश देती हैं कि किन्नरों की समस्याओं का स्थायी समाधान केवल संवेदनशीलता, सामाजिक स्वीकृति और भावनात्मक सहयोग से ही संभव है, न कि राजनीतिक अवसरवाद या सतही सहानुभूति से।

फिर भी उपन्यास की कुछ सीमाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। इसकी पत्रात्मक शैली कई बार कृत्रिम प्रतीत होती है; संवाद और कथानक हमेशा सहज व स्वाभाविक नहीं लगते। विशेष रूप से, पूरे उपन्यास में बा के पत्रों का अभाव खटकता है—यदि बा के दृष्टिकोण से भी पत्र होते, तो विनोद और उसकी माँ के बीच की भावनात्मक दूरी और गहराई और बेहतर ढंग से चित्रित हो सकती थी। इसके बावजूद, चित्रा मुद्गल अपने उद्देश्य में सफल होती हैं—समाज की जड़ मानसिकता को चुनौती देते हुए यह सशक्त संदेश देने में कि किन्नरों को भी मनुष्य माना जाए और उनके प्रति संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाया जाए।

संदर्भ

1. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 193
2. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 110
3. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 111
4. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 24
5. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 110
6. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 46
7. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 195 व 196
8. तीसरी ताली, प्रदीप सौरभ, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली 2011पृष्ठ सं० 31
9. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 111
10. 'पोस्ट बॉक्स नं० 203 नाला सोपारा', चित्रा मुद्गल (सामाजिक पेपरेवैक्स, नई दिल्ली 2016) पृष्ठ सं० 153
11. सामयिक सरस्वती, संपा–महेश भारद्वाज, विकलांग है असामाजिक या अपशकुन नहीं, प्रदीप कुमार, अंक–अप्रैल–सितंबर 2018, पृ.सं. – 81